रेत और रेखा

रामानन्द मनोट

प्रकाशक —नरेन्द्र प्रकाशन, लखनऊ

प्रथम सस्करण

*

मूल्य 2 रुपये

*

मुद्रक —मुद्रण कला गृह, लखनऊ

प्रतिक्रिया

श्री रामानद भनोट का नाम पत्र पत्रिकाओ मे अक्सर न देखे जाने पर भी हिंदी पाठको के लिए अपरिचित नाम नही है। उनका एक कहानी सग्रह, एक निबध-सग्रह और एक कविता-सग्रह, सत्ताईस कविताएँ (1966)—प्रकाशित हो चुका है। उनका एक और कविता सग्रह प्रकाशित होने जा रहा है। उनकी इच्छा है कि इसकी भूमिका मैं लिखू। मुझे प्रसन्नता है और मैं उनका आभारी हूँ कि वे इस रूप मे मुझे भी अपनी कृति से सबद्ध करना चाहते है।

'सत्ताईस कविताएँ' मैंने पढी थी। उनसे उनके रचयिता का भावप्रवण, चिंतक और सचेत सजक स्वरूप जो मेरे सामने खडा हुआ था उसकी छाया अब भी मेरी स्मृति म बनी हुई है। उनकी नई कविताओ को पढकर उनका वही रूप कुछ और स्पष्ट होकर मेरे सामने आया है।

पिछले बीस वर्षो मे हिंदी कविता के रूप और स्वभाव म बहुत बडा परिवतन हुआ है। हमारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन और ज्ञान विज्ञान के जगत म जो परिवतन, जो विकास हुआ है, उसने बहुत से अदभुत, अप्रत्याशित और कटु कठोर यथार्थों को हमारे सामने ला रक्खा है। इसका प्रभाव कवि पर पडना स्वाभाविक था और कई रूपो मे। यथार्थों से पलायन किया जा सकता था, उनके प्रति उदासीन रहा जा सकता था या उनसे जूझा जा सकता था। और कभी कभी तो ऐसा भी हुआ कि एक ही कवि अपनी विभिन्न मन स्थितियो म इन तीनो स्थितियो मे रहा है। 'सत्ताईस कविताएँ' के कवि म मैंने पलायन भी देखा।

करते हम पार कैलाश
पहुँच जाते उस छोर
शरण म अनत के
होता म पछी अगर,

और यथाथ की अनुभूति भी,

ससार यह फैला हुआ

है निरथक सवथा
है हम सब पशु
लाठी का ही बल
प्राचीन काल से चला
है आ रहा।

कविता की दृष्टि स इसे मैं दोप नही मानता। हम जिस युग म है उसम विभाजित व्यक्तित्व की पीडा का भागना कवि की नियति है। उदासीनता वहाँ आती है जहाँ कवि की दृष्टि केवल शब्द सौंदय पर केंद्रित हा जाती है। यानी जहाँ वह कला के लिए कला का सृजन करने लगता है। मुझे इस वात की प्रसन्नता है कि यह उदासीनता भनोट जी म मुझे नही मिली—इसका खतरा प्राय ऐसे कवियो का हाता है जा किसी शैली के उस्ताद हो जाते हैं। वे अपनी कठपुतली को सँवार सिंगार सकते हैं उसे बदल नही सकते। भनोट जी को अपनी हर कविता मे, जो वे कहना चाहते हैं उसके लिए माध्यम की खोज करनी पडती है। इसम कहीं-कहीं अपरिपक्वता हा, पर निर्जीवता नही।

भनोट जी अपनी नई कविताओ म भी रूमान और यथाथ के बीच झटके खा रहे हैं—रूमान चाहे धम का हा, चाहे आदश का, और यथाथ चाहे चुनौती दे, चाहे सघष करे, चाहे परास्त। 'प्राथना, 'आओ प्रियतम, अत्त दीपो भव' और इस सग्रह की सबसे लबी कविता 'देवदास इसी रूमानी दृष्टि और पलायन के द्योतक है। नगरी (1)', 'भारत, 'नगरी (2)', 'रह जाता मूक' यथार्थोन्मुखी दृष्टि के।

इन दोनो के बीच भनोट जी की कविताओ का एक और प्रदेश है, शायद दानो से अधिक ममस्पर्शी, उनके वैयक्तिक जीवन के रूमान-यथाथ का। इसके उदाहरण है 'क्यो कहता मन ?' ए मन', प्यासे नेत्र 'पच्चीस वप बाद आदि। यहा अनुभूतियो की गहराई है, अभिव्यक्ति मे उदबोधकता और प्रभाव की गभीरता जो कई बार उदास भी कर देती है और सच्चाई का बाध भी करा जाती है,

'मैने भी फैलाया था सम्मुख
मधुर जीवन का स्वप्न
पर लगा थपेडा जब नियति का
मिट गया सब कुछ क्षण मे,

आँखे है शुष्क
रोता है हृदय—
पर जग
हँसता है
× × ×
'बीत गया है जीवन
भक्ति रहित, विश्वास रहित
भरा दुख से
व्यथ थी चिंता ?
हाय ! ता अब क्या होगा ?'
× × ×
मन हारिल का यह उडते रहना,
आकाश वास, यह आशावाद,
पलायन है यथार्थ से
काँटो स, ठोकरो से, मरण से ।
व्यथ
यह हारिल जीवन !

जो वास्तव मे कवि है कविता उसके लिए जीवन का अथ जानने का एक माध्यम है । जीवन अनतमुखी अनत अर्थी है । हर कवि के लिए सत्य का कोई न कोई अछूता अश देख लेने का अवसर है । इस शाध म राह के सत्य उतने ही महत्व के है जितने मजिल के । इसी पथ का पथिक होने के नाते मै यह कामना करता हूँ कि भनोट की यात्रा मगलमय हो ।—हाँ, पर सरल नही । सरल यात्रा तो दूसरा के बनाये पथ पर ही सभव है, पर कवि तो अपनी राह बनाता है, तब उस पर चलता है ।

'राह ? यहा पर राह नही है अपनी राह बनाओ ।'

(एकात सगीत)

13, विलिंगडन क्रिसेंट
नई दिल्ली–11
15-3 1969

—बच्चन

कुछ पंक्तियाँ

1966 मे "सत्ताईस कविताएँ" नामक एक सग्रह एक अप-रिचित कवि ने मेरे पास भेजा। उस पर मैंने उन्हे यह पत्र प्रतिक्रिया लिख भेजी थी। 10 2 66 का मेरा पत्र कवि ने अपने पास सभाल कर रखा। उसके कुछ अश देने का मोह होता है। वे या है –

प्रिय श्री भनोट

आपका 7 2 का पत्र और "सत्ताईस कविताएँ" नामक कविता पुस्तक प्राप्त हुई। धन्यवाद।

आपकी कविताएँ मैं पढ गया। आपके पास कविता के लिये आवश्यक कच्चा माल–तीव्र अनुभूति, उत्कट सवेदना, चित्रोपम भाषा, दार्शनिक तटस्थता, आदि गुण है।

आपने हिन्दी कवियो म 'निराला' को पढा है–जैसा कि कई उनकी पक्तियो मे (unconsciously) आपकी रचना म पुनरावृत्ति से स्पष्ट है, जैसे 'धीरे, धीरे धीरे, 'बह जाने दो,' 'सरल हृदय उदगार' 'सुख के दिन बीत गये दु ख ही शेष रह गया,' इत्यादि

आपके जीवन मे कोई बडा पीडा जनक आघात, अभाव, अकेलापन है

वस्तुत कवि कम दुस्तर है। जब हरे वक्ष को कुठार मे चीरते है (यह बिंब पृष्ठ 12 और 22 पर द्विरक्त है) तब जो कुछ होता है उसम मे जो रस निकलता है, वैसा कुछ कविता का है। आप उस बात को मन ही मन समझते हैं पर उसे व्यक्त करने वाली भाषा और अन्य सामग्री पाने के लिये और भी परिश्रम आवश्यक है। सच्चे कवि को और कोई मार्ग नही दिखा सकता। उसे तो बुद्ध की तरह 'अत्त दीपो भव' होना पडता है

' इस बीच म 'कामायनी–एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन' नामक समीक्षात्मक पुस्तक भी देखने को मिली। इसमे 'रहस्यवाद और

हिन्दी साहित्य' बहुत रोचक निबन्ध जान पड़ा, यद्यपि यह 1955 में लिखा हुआ है। 'रहस्यवाद' मेरी भी रुचि का विषय रहा है, मेरे शोध प्रबंध में उसके बारे में बहुत सामग्री है। कवि श्री भनोट की रुझान उस दिशा में है, यह उनकी कविताओं में भी स्पष्ट है।

गत सप्ताह यह सज्जन मेरे पास आये और यह सूचना प्राप्त करके मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि वे हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के सबसे छोटे भाई है। लाहौर में उन्होंने बी० ए० किया था और पन्द्रह साल से दिल्ली में रहते हैं। सरकारी मुद्रण से भी सम्बद्ध है और चुपचाप साहित्य साधना करते हैं। सारे विज्ञापन प्रधान साहित्य की राजनीति के झाड-झाड़ से एकदम दूर। यहाँ तक कि मेरे प्रश्न करने पर कि 'अपने भाई से आपने भूमिका क्यों नहीं लिखवाई' वे सकोच से बोले– मैं अपने गुण के बल पर बढना चाहता हूँ। वात्स्यायन जी को गत ३५ वर्षों से मैं अपना मित्र मानता हूँ। परन्तु श्री भनोट का कभी उल्लेख उनके मुँह में नहीं सुना। यानी डा० हीरानद शास्त्री के पाँचों पुत्रों में चार साहित्यकार निकले–श्री वत्सराज भनोट और श्री नित्यानद वात्स्यायन को तो हिन्दी जगत जानता है।

अब इस कविता सग्रह के बारे में। इसमें भी कवि का करुणा सिक्त मन उसी प्रकार से कल्पना लोक में उड़ानें लेता है जैसे छाया वादी कवि कभी लेता था। हिन्दी कविता के लिये यह मुहावरा काफी पुराना हो चुका। पर कवि की प्रमाणिकता निस्सदेह मन को छूती है। कहीं कहीं पन्त के 'बादल' या निराला के 'बादल राग' की याद दिलाने वाला ह मेघ है तो कहीं 'हारिल मन' अज्ञेय की 'आज थका हिय हारिल मेरा' की याद दिलाती है। अंतिम लम्बी कविता 'देवदास' उस करुणाक्त शरच्चन्द्रीय कथा और चित्रपट की तीव्र रूप से याद दुहरा कर झकझोरती है। पर वह रोमांटिक 'प्रेम और मरण' वाला सूत्र अब कविता का तो दूर कहानी का भी विषय नहीं रहा है। कवि श्री भनोट प्रेम भग की उस उदासी और एकाकीपन को अपनी रचना में समेटने में सफल रहे है। 'भारत' 'नगरी,' कहाँ आदि में महानगर के बढते आर्थिक संघर्ष का भी चित्रण है।

पहले सग्रह से अब छन्द पर अधिकार बढा है। भाषा भी सँवरी है, यद्यपि कई प्रयोग चिन्त्य हैं जैसे भर्त्स्ना, विपात्त लहुलथ, दुदाम ।

कुल मिलाकर इन कविताओ को पढकर यह लगता है कि रचनाकार सूक्ष्म सवेदनाशील है। कल्पना भी उसकी उवर है, वह हिन्दी के छायावादी और प्रगतिवादी काव्य से सुपरिचित है। परतु बिलकुल रट का या आधुनिक मुहावरा उसके पास नही है। शायद उस तरह की ओढी हुई आधुनिकता मे उसका विश्वास भी नही है। उसकी प्रवत्ति पुन नव्य-रहस्यवाद की ओर झुकाने की है। जब बडे-बडे कवि बुद्धिवादी और क्रातिकारी मानवतावादी दशन से प्रेरित होने वाले भी अतत जैन, बौद्ध या तत्सम रहस्योमुखी दशनो म अपने काव्य को मोड सकते हैं तो श्री भनोट के मूलत अनास्तिक प्रवृत्ति से आश्चय नही होता। पर नवयुवक होकर भी सारे जीवन और जगत स निराश होने की बात विशेष समझ मे नही आती। उत्तर-छायावाद मे यह 'पीडा म तुझको ढूढा, तुझमे ढूढूगी पीडा' वाला वेदना-वाद बहुत चला था। उत्तर प्रगतिवाद की परिणति भी खोज और कड़ुआहट मे हुई। उत्तर प्रयोगवादी तो 'ओ दाता' की मुद्रा मे आ गये। परन्तु अब यह सब निरा 'रूदन ही है गायन' नही चलेगा। कवि मे जनसाधारण दिशा दशन भी चाहता है। अगले सग्रहो मे हम श्री भनोट से और आशा करें।

—प्रभाकर माचवे

14-3-69

वक्तव्य

वक्तव्य

नही कही है लेखा
उस पीडा, प्रसव-वेदना का
सह कर जिसको
देता है जन्म कवि-मानस
कविता को ।

नही किसी ने देखा
इन प्रसव-स्वेद-बिन्दुओ को,
न सुना
इन मूक चीत्कारो को,
चीर कर मानस जो बन गईं रचना
कवि की ।

सुकोमल-सरस भावनाएं, ये आशाएं,
नवजात शिशु सी असहाय
बहा देता है कवि, छोड निश्वास
अनन्त-काल-सागर मे ।

तिरस्कार उपेक्षा भर्त्सना के
बवडर मे
होगा इनका विलयन अविलम्ब,
कि पाकर आश्रय
भूधारी शेषनाग-फण सम
लोकप्रियता का
रहेगी रक्षित—
कह न सकता कवि ।

प्रार्थना

छा जाते हैं घन, क्रुद्ध मेघ,
मानस-अम्बर पर,
और पीस कर दांत, दानव समान,
धमकाते हैं मन को ।
सुन कर कड़क, प्रतिध्वनित गरज,
हो जाता है मन क्षुब्ध, म्लान ।

देख यह व्यापक क्षोभ,
कातर मन, पीड़ा त्रस्त,

रह जाता है हतप्रभ—
पर फिर आता है स्मरण
तेरा, हे अवलोकितेश्वर,
और झुक जाता हूँ भू पर
बद्ध हस्त, नत मस्तक ।

मुझ से भी दीन
हैं कई, पीडाक्रान्त,
प्रभु करो प्रदान इन को
वह अद्भुत करुणा—
खोलो बाँध
बरसाओ करुणा रस
जो बन कर अमृत,
हर ले इनकी दुःख-पीडा,
ये मुझ से भी हैं दीन ।

मैं सह लूंगा दुःख जीवन के
तेरा कर ध्यान,
पर हे अक्षोभ्य,
इनका त्रस्त मानस
करो शान्त,
ये है साधन विहीन,
अक्षम, श्रान्त, अति-खिन्न ।

मैं सह लूगा प्रहार,
जीवन के ये उपहार
जो मेरे भाग्य पडे,

सह लूंगा उपहास,
और यह शरीर
कर दूंगा अर्पित इन को,
पर हे करुणानिधान,
दो शरण उनको
जो हैं असहाय, बलहीन, दीन।

सुनो क्रन्दन,
हे शिखरारूढ देव,
और बरसाओ महासुख-जननी करुणा—
हे अवलोकितेश्वर!

क्यो कहता मन?

यौवन जब बीत गया,
करते थे जो आसक्त
प्रेम-पुष्प, हुए शुष्क,
रग-गध-आकर्षण-विहीन,
भावना-भँवर त्यक्त ।

सामाजिक विचार-जाल
सन्तति पर छा गया,
छोड गृह-नीड, उड गये—

ममता का यह तप्त स्राव
निरालम्ब, व्यर्थ वह गया।

सोचा, ज्ञान के विकास से
पाऊँगा मुक्ति भक्ति से,
कह, "उपासना है प्रवचना
और सस्कार ये ससार के
उद्‌भूत है मन-विकार मे।"

कर्म, भाव, भक्ति पर
पा कर विजय शीघ्र
हो जाऊँगा आश्वस्त, धीर,
ज्ञान के आधार पर,
निर्विकल्प समाधिस्थ।

पर आज क्यो उठा भाव
जीवन जब तक शेष है,
रन्ध्रो का है रक्त-चार,
दमन कभी होगा नही
भाव का, कर्म-आसक्ति-भक्ति का।

आज क्यो कहता मन
अनुराग, आसक्ति, भुक्ति,
यही तो जीवन के आधार,
नव-रस-सिंचित पुण्याकर्षण,
यही तो मन भवँरे का मगार,

इसी से सार्थक है जीवन,
यह बहुरगी धारा मे प्लावन,
यही है सत्य चिरतन—
आज क्यो कहता मन ?

नगरी (१)

इस विशाल नगरी मे
साधन सब हैं
ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के ।
वाहन विविध आधुनिकतम कितने
चल रहे हैं सतत ।
भरी हैं दूकानें
देश-विदेश की नव, आकर्षक
सामग्री मे

देखकर जिसको
मैं, निर्धन,
भर कर आह
रह जाता हूँ।

मनोरंजन के साधन, रस-रंग-भरे,
पोषण के व्यंजन मनमोहक
बिखरे हैं सर्वत्र
परन्तु मैं, निर्धन,
ठगा सा
देख देख कर रह जाता हूँ,
भर कर आह।

ए मन

ए मन,
कौन कह सकता था
कि तू सह लेगा
कडी चोटें इतनी,
पीडा, निराशा, उपेक्षा, इतनी,
न हुए उद्विग्न, विकृत ?

पर, ए मन,
किस हेतु तू सहता है दुःख,

किस आशा से रह जाता शान्त
खा कर मार
वार वार,
न हुए उद्भ्रान्त, क्लान्त ?
क्यों न मान
अनुभव प्रमाण
विश्वास कर पाता तू
पड़ेगी आगे भी, ऐसे ही
चोटें कड़ी निरन्तर
आयु पर्यन्त,
क्यों न रख देता तू
जीवन भार,
मान कर हार ?
ए मन,
दुराशा क्योंकर करता तू
निज अनुभव भूल
क्यों कहता तू
पलटेंगे दिन,
आयेगी बहार
एक दिन
जीवन में ?
ए मन,
कौन कह सकता था
तू होगा इतना दृढ़,
इतना ढीठ ?

न माँगो वरदान

इन प्रतिमाओ मे, बन्धु,
तुम न मागो वरदान,
देवी और देवताओ को तुम
रहने दो रूठे,
मुख फेरे ,
फेर लो तुम मुख
इन जड प्रतिमाओ मे,
न माँगो मुस्कान !

तुम ही तो निर्माता
इनके जन्मदाता,
तुम्हारी ही अनुकम्पा से
हुआ था प्रतिष्ठान
इनका पूजन, मान, सम्मान,
फेर लो मुख इन से
न माँगो वरदान ।

अन्तर जब है शुद्ध
तुम ही बनते बुद्ध,
भय और शका त्याग
बूडते जब तुम
मानस-रत्नाकर अन्दर
बनते तुम ही पैगम्बर,
तुम सहिष्णु
बनते विष्णु,
तुम्हारी ही मानस-प्रतिभा
रचती गीता
दिव्य व्याख्यान—
इन पत्थर प्रतिमाओ से फिर
क्यो माँगो वरदान तुम
क्यो माँगो मुस्कान ?

तुम ही सर्व गुण-आकर,
मानव-जीवन अम्बर मे
स्वय तुम प्रभाकर

न पाओगे इनसे तुम
कोई वरदान,
न पाओगे मुस्कान ।

फेर लो मुख, वन्धु, इनसे
न माँगो वरदान ।

प्यासे नेत्र

प्यासे नेत्र
देखते रह जाते है राह—
पर चले जाते है सब, व्यस्त,
अपनी चिंताओ से त्रस्त,
या पिपासा मस्त ।

जीवन के कटु अनुभव जब
उभार देते है फफोले तप्त
छटपटाते मानस पर,

सहिष्णु आँखो के शीतल अश्रु
कौन बहते पाता है तब ?

इस लौह-पिंजर सल्लाखो मध्य
फैला बाहें, खोल देता हूँ हाथ—
कोई तो दे जाये चुम्बन एक
इन हाथो पर
बस एक बार !

पर मिलते कठोर प्रहार,
और ये लहुलथ हाथ
समेट लेता हूँ
जब हो जाता निराश,
लाचार !

पच्चीस वर्ष बाद

यही है आनन
भरा झुर्रियो से,
जिस पर रीझा यौवन मे ?
यही था अक्षय-सौन्दर्य सागर ?

यही वह मन,
मात्सर्य-द्वेष-प्रेरित,
भौतिक लिप्सा उद्वेलित,
मिथ्याभिमान-आलोडित—

यही था सतत सम्मानित, पूजित
यौवन का पवित्र-गुण-आकर ?

यही थी कर्कश वाणी
जिसकी मधुर सुरीली तान
भुला जग दृश्यमान
करती प्रदान
अलौकिक तृप्ति, रस-जननी ?

यही वह सूखा देह
जिसका क्षणिक भी स्पर्श
देता कम्पन, हर्ष,
पाता स्नेह,
दिव्य उपमेय ?
यही वह दिव्य वदन ?
इसी का था पूजन, श्लाघन ?
यही वह जर्जर चर्म,
ये पिचके, लटके स्तन ?

अब कहाँ वह भावोल्लास !
हाय कैसा यह काल का हास !
विफल गया यह भी प्रयास,
कहता है मन, छोड निश्वास
फिर हुई हार—
दे दुख भार,
गये हैं व्यर्थ
पच्चीस वर्ष ।

हारिल मन

मन-हारिल है उड़ता रहता
लालायित, आगे चलता,
रहती फिर भी आशा
आगे, आगे, आगे

आकाश पर टिकाये दृष्टि
भूतल को देख न पाता
दृष्टि पीछे फेर न पाता,
हारिल-मन,

पीछे बिखरी निराशा,
देख न पाता हारिल-मन ।

व्यर्थ यह हारिल-जीवन ।
आवास नहीं आकाश ।
निराशा के ये ककड पत्थर
अन्तहीन भूतल पर बिखरे,
इन्हीं में होता जन्म, मरण, आवास—
ये ही यथार्थ ।

मन-हारिल का यह उडते रहना,
आकाशवास, यह आशावाद,
पलायन है यथार्थ से
काँटो से, ठोकरो से, मरण से ।
व्यर्थ
यह हारिल-जीवन ।

भारत

की है पार
वर्षों लम्बी राह
पर यही तो रह गये, ठगे
तुम खडे एकाकी
सशक, अधीर ।
खडे वही,
देखा तुमने
गिरते कितने फूल

यौवन के,
और चहके वही
फडफडाकर पख
विहग कितने आकर्षक,
जो लेकर अपनी राह
सब चले गये,
और बनाये थे तुमने
जो मन्दिर
जिनमे रखी थी इष्टदेव की प्रतिमा
टूट गये अब सब,
क्षुण्ण हुईं प्रतिमा,
रग-विहीन सब चित्त,
और रह गये हो तुम
खडे वही एकाकी,
सशक, अधीर !
बहती थी गगा
तुम्हारे सम्मुख
आदर्शों की पावन धारा
और प्यार भरी थी मोहिनी यमुना,
पर पीकर जल
तुम्हारी मिटी नही थी प्यास—
इतिहास के प्रवाह मे
हुआ था विपाक्त
गोद में इनकी जो था रम
और रह गये थे तुम

खडे वही, अतृप्त
अधीर

किस आशा से अव प्लावित तुम ?
क्या आयेगा समीर
पश्चिम से
लेकर सुनहरे मेघ
जो छा जायेंगे तेरे अम्बर पर,
बरसायेंगे अमृत ?
आयेगा फिर एक अद्भुत भोर
और तेरी सूखी धरती पर
फिर नाचेंगे मोर ?

आओ प्रियतम !

छोड विचार
धन, धन्धों के,
आओ प्रियतम,
प्यार के मधुर मिलन में
आज पा लें हम ससार ।

भूल जाओ दिनचर्या,
न सोचो आज
कौन है दिन, मास, वार—

भुला दो
जीवन के ये तुच्छ कर्म-भार ।
आओ, प्रियतम
मनाये आज प्रेम त्यौहार ।

न कहो, प्रियतम
यह नही है मधुमास ।
न हो ऋतु बसन्त
पर हृत्तन्त्रियाँ आज
हो उठी हैं अधीर
प्रेमातिरेक से झंकृत—
न सही सावन समीर
परन्तु आज मैं तृषित
खडी हूँ सम्मुख
किये हठ
आज न जाने दूगी तुम्हे,
बाँध कर आज
प्रेम के बन्धनो से
रखूंगी अन्तर मे समाये
तुम्हे, प्रियतम ।
आज मेरी होगी विजय,
आज हो तुम
मेरे, केवल मेरे ।

आओ प्रियतम, आओ ।

हे मेघ

हे मेघ !
बन्धु !
यहाँ न बरसो,
यह नही है स्थल
जहाँ फूट सकेंगे अकुर,
यह है शुष्क मरुस्थल
यहाँ न बरसो,
हे मेघ

युग बीत गये
तब यह था देश
आशाओं से लहराता,
सह लेता था ग्रीष्म की धूप कड़ी,
छाये सावन स्वप्न
हृदय में।
और झूम झूम झूम
खिल उठता था अन्तर,
यह हरियाली
प्रस्फुटित मेरा रूपं
जन जागा सब पर।
युग बीत गये

यहाँ न बरसो,
यह है मरुस्थल
शुष्क

जव स्मृतियाँ वुदवुद उभरेगी
और आयेगी याद
उस रोती भोलीभाली की,
तुम क्या करोगे,
तव क्या करोगे ?

उसे रोती छोड कर आये थे,
तुम दूर भाग कर आये थे,
पर स्मृतियाँ कहाँ छोड आओगे,
कहाँ तुम मुक्ति पाओगे ?

देखो पीकर मदिरा
तीव्रतर ही होती पीडा
इन छलकते प्यालो से तुम
वुझा न पाओगे ज्वाला,
सुन पैरो की झकार
इन मुरझाई वालाओ के
देख हाव-भाव, अलकार,
क्या तुम छोड कैलास
इस कीच में अब फँस जाओगे,
आज इस जूठन से तुम
पवित्र तृपा वुझाओगे ?
इस कृत्रिमता मे तुम
कुछ भुला न पाओगे
और जव आयेगी सूनी रात
लेकर पश्चात्ताप,

तब क्या करोगे
तुम क्या करोगे ?

चिर परिचित वह पुकार
मचायेगी हाहाकार
जब अतर्मन मे
और आँसू छलछल आयेंगे
तडपोगे फिर, तडपोगे,
और लेटे जब एकाकी तुम
सीत्कारे दबाओगे
भर वेदना से
तो किस के आँचल मे तुम
छिपा कर मुख
रोओगे तुम, रोओगे ?
तब क्या करोगे
तुम क्या करोगे ?

क्या मोल ?

मृदु अरुण कली
कभी खिल न सकी
फैला न सकी आकर्षण,
बद्ध हृदय,
जो दे न सकी रस, गंध,
उस कली का क्या है मोल,
क्या मोल ?

हिमाच्छादित पर्वतों मध्य,

शीताक्रान्त प्रदेशों में
जमी रही निर्जीव,
तोड़ कर बांध, जो वह न सकी,
कभी पा न सकी उष्ण किरण,
उस मृत सरिता का क्या है मोल,
क्या मोल ?

बैठी रही जो डाल पर
सूखे वृक्षों की,
कभी गा न सकी,
पख फैला कर
उड़ न सकी,
उस कोकिल का क्या है मोल,
क्या मोल ?

लेकर सूना क्वांरपन
विता गई जीवन,
पाया कभी न प्यार,
न खोले कभी जिसने
भय से, उर के द्वार,
उस तरुणी का क्या है मोल,
क्या मोल ?

नगरी (२)

दूर तक फैली है नगरी
काली, विषैली,
मैली,
आकर्षण में इसके
खोखलेपन में,
फँसना ना,
पथिक, तू लुभना ना ।

समुद्र है फैला आगे

लहराता, हर्षाता,
सुन, क्या है कहता ?
"पथिक तू आ पार,
छोड दे व्यापार
इस नगरी के शिथिल आचार,
है एक और कगार
तू चल उस पार "

पर तू साधन-रहित, सामर्थ्यहीन
पा न सकता नाव, विमान,
तो मोड ले मुख,
पीछे रह जाये सागर,
तू चल पड
निज बल पर
और कर ले सत्वर पार
पथिक, यह नगरी विषैली,
दूर तक फैली,
मैली

ये गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ, ये दम्भ-स्तूप,
ये चमकते हर्म्य
रहते जिनमें मोटे सेठ
तू छोड चल इनको,
देख कर तारे,
चमकते हीरे,
तू चल पड दक्षिण, पूरब, उत्तर

पथिक, तू चल पड पार।

जहाँ रहे मन विमुक्त
जहाँ न द्रव्य का भार,
पथिक तू चल उस पार,
छोड यह नगरी चौडी,
विषैली

रह जाती है धरती

काले वादल
जब घिर आते है मँडराकर
काल समान,
गरज गरज कर जब देते धमकी
ये वादल
नष्ट कर देने को जीवन
विद्युत प्रहारो से क्षण मे,
आंधियाँ जब है चलती

विकराल-सर्प-फूत्कार समान
और जीवन की लघु दीप-शिखा
क्षीण, असहाय
टिमटिमाने लगती है जब,

मानव-जीवन-नौका
बवण्डर में फँस जाती जब,
खोज न पाता मानव पथ
गहन बीहड़ वन में जब,
खाकर वह चोटें
छटपटाता रह जाता,
और फेर कर मुख
चले जाते जब
मित्र-बान्धव सब,
लेकर तड़पती आत्मा
और मूक कराहट
परास्त, व्यथित मानव
जब एकाकी रह जाता,
कौन है तब दे पाता
उसको आश्रय, सान्त्वना ?

ईश की सत्ता अब
हो चुकी है नष्ट,
रह गई है केवल
यह धरती पथरीली,
यह मिट्टी शुष्क,

और बहते हैं अश्रु जब
नश्वर मानव के, तप्त,
सोख लेती है धरती ककरीली
और शीघ्र, अतिशीघ्र,
मिट जाता है
इनका भी अस्तित्व ।
रह जाती है केवल
यह धरती,
यह मिट्टी शुष्क ।

रह जाता मूक

व्यस्त हैं हम
बनाने में नियम, अधिनियम
विधेयक विविध,
देने दण्ड अपराधी को
पहुँचाता जो क्षति
तन को।

पर नित्य होते जो अत्याचार
मन पर बलात्कार,

जाते क्यों यूँ उपेक्षित ?
यह असहाय मानस, अरक्षित
खा कर चोट
मचाता हाहाकार
पर इसका रुदन
जाता व्यर्थ

न है नियम
न न्यायालय
जहाँ मिले दण्ड
इसके आततायी को
जिससे पीड़ित
तड़पता है मानस—
हो हताश,
दीन, क्षीण,
रह जाता मूक

मिलन

कह न पाऊँगा
लेकर कौन सी अस्फुट आशा
आया था तेरे द्वार
पाने अनुपम उपहार—
तेरा प्यार ।

न था मन मे भी तेरे
भावो का अद्‌भुत मिश्रण,
रुदन-हास, कम्पन-प्यास ?

खडी तुम भी एकाकी
क्या ताक न रही थी राह ?
न थी मन मे आस ?

वढे ये धीरे-धीरे
हम दोनो
जला था मन मे आशा-दीप
फिर क्यो न पाया सुख
मिलन मे हमने,
क्यो वह निकले ये अश्रु अविरल
क्यो रोई तुम सिसकियाँ भर,
कैसा यह मिलन, प्रिये,
कैसी थी पूर्त्ति, दु ख जननी ?
उठा था जो प्यार
लेकर मधुर आशा का ज्वार,
वीते जव दिन चार
मधुर मिलन के
गिरा, खाकर पछाड ।

यह कैसा था उपहार,
दु ख की यह कैसी वौछार,
मन मे अव यह कैसा भार ?
प्रिये, यह कैसा मिलन,
कैसी यह सिहरन ?
यह तडपन
अव वनी रहेगी क्या आजीवन ?
प्रिये, यह कैसा मिलन ?

स्वार्थ

तुम
जब हँस देती हो
खिलखिलाकर, मुग्ध,
श्रान्ति जीवन की,
ये चिंताएँ, बाधाएँ
मिट जाती हैं समस्त।
मेरा यह प्रेम,
यह भरण, पोषण, उपहार,

पाकर जिनको तुम
देती हो धन्यवाद
कह कर मुझेउदार
हैं सब स्वार्थ भरे,
न रहो तुम सन्तुष्ट
जीवन पर मुग्ध,
न हँसो यदि
इस सरलता से खिलखिला कर
तो मैं, वंचित
सह न पाऊँगा दुःख
जीवन के,
और होकर हताश
रख दूँगा भार,
उखड जायेंगे पाँव
और छोड दूँगा प्राण।
न कहो मुझे उदार—
मैं हूँ प्रेरित,
स्वार्थ से।

अपना अपना भाग्य

अवकाश के समय
निकल बालिकाएँ
किलकारियाँ भरती
उछलती, गिरती,
हँसती, चिल्लाती
आईं बाहर सत्वर,
खोल पोटली, डिब्बा
अपना अपना

लगी ठूसने मुँह मे
वे-सवर

एक वालिका
भोली,सरला
वनी भाग्य का निशाना—
चील झपट कर
ले गई नन्हे हाथो से
पक्वान्न क्षण मे,
रोती है वालिका,
पर सखियाँ
हँसती हैं

मैंनें भी फैलाया था सम्मुख
मधुर जीवन का स्वप्न
पर लगा थपेडा जब नियति का
मिट गया सव कुछ क्षण मे,
आँखे है शुष्क
रोता है हृदय—
पर जग
हँसता है

तरु

तरल कोमल लता
वृक्ष का पा सहारा
विता देती है जीवन,
नहीं है उसको चिंता
झझाओं की,
हो संतुष्ट, आश्वस्त
विता देती है जीवन
तरु की शीतल छाया में,

आये आतप, आये पाला,
आये बौछार, तूफान,
वृक्ष को ही तो सहना होगा,
रह जायेगी लता
चिंता-मुक्त
शीतल छाया मे शात ।

क्या पाता वृक्ष
लता के कोमल आलिंगन से—
वृक्ष को लता
क्यो कर दोषी ठहरायेगी
यदि वह रह जाता प्यासा ?
फेर कर दृष्टि
यदि खोजता अन्यत्र
किंचित सुख ?

बातें छोटी-छोटी

और लौटता हूँ जब
तो सुनाती हो मुझे
बडे चाव से तुम,
ये बातें छोटी-छोटी
लोगो की।

मैं सुनूं,
या कर दूं अनसुनी
ये बाते छोटी-छोटी,
पर तुम
कहती ही जाती हो निरन्तर
ये बाते
जिनमे है केन्द्रित
जीवन तुम्हारा,
और जो किये है सरस
तुम्हारे दिन सूने।
मैं सुनूं,
या कर दूं अनसुनी,
पर तुम
सुनाती जाओ
ये बाते,
शिकायते,
छोटी-छोटी

अत्त दीपो भव

अपने दीप वनो,
स्वय तुम ज्योति वनो ।

वैठे ये अधिकारी,
से रहे सत्ताधारी
अपने पद, धन,
तुम नही इनके आभारी—
तुम आत्माराम वनो,
अपने दीप वनो ।

दर्शन-शास्त्र-वित् ये
कर न सकते पर-हित,
दृष्टि इनकी परिमित,
"वस्तु-मात्र" करते वर्णित
विलक्षण तर्क-वितर्क मे बद्ध,
ये नही है इष्ट,
डूब इस अनुभव सागर में
तुम अपनी ज्योति बनो,
अपने दीप बनो !

योगी-वृन्द ये, निज मुक्ति इच्छुक,
भक्ति - ज्ञान - कर्म उपदेशक,
निरजन - अजन, मुद्रा - आसन,
कुण्डलिनी - सहस्रार - साधक,
कापालिक, तात्रिक, शक्ति-उपासक,
परवर्त्ती धर्म - ग्रन्थ - वाचक—
शब्द - जाल वलयित
स्वय ये सब चक्रित
दिखा न सकेंगे पन्थ,
रह स्व-अनुभव आश्रित
निज आत्मा विकसित करो,
तुम अपनी ज्योति बनो,
अपने दीप बनो !

शशि

किस अनुभव की आशा से,
देव-भृमि की चचल-सरल युवति तुम
अभिसारिका बन कर आई हो ?
मेरी शैय्या पर लेटी तुम
किस मधुर स्वप्न में सोई हो ?

वही यह चन्द्रमुख,
वही लाज, सकोच, झिझक, ——
वही यह भोलापन,

पर मेरे मन मे अनुभव स्मृतियाँ
धुंधली, अनेक,
घिर-घिर आती हैं
अस्फुट।
आज इस नव-अनुभव में
वह तुष्टि कहाँ,
वह वात कहाँ ?

वैसी ही हो
तुम चिर-नव
नवयौवना
वही यह तरल शरीर
वही है गठन, उभार,
वही कम्पित अधरो पर तप्त अधर,
वही अन्तिम विद्युत झकझोर,
पर वह भावोद्‌गार कहाँ,
वह वात कहाँ ?

मै पार कर पथ
खडा हूँ छोर पर,
हमारे इस मिलन मे
माधुर्य कहाँ,
वह ऐक्य कहाँ, सौन्दर्य कहाँ,
वह बात कहाँ ?

चिंता

सता रही है चिंताएँ,
न जाने कल क्या होगा
मुझे, मेरे परिवार को,
आय का स्रोत सूख न जाये,
दुर्घटना न कोई हो जाये,
रोगामन न हो जाये हम

यूं ही
चिंताग्रस्त चला आया हूँ

वर्षों से त्रस्त
जीवन मे
भयातुर ।

कैसे जग मे अन्य
पग-पग पर हँसते-हँसते
चले जाते हैं मस्त,
कभी समझ न पाया
मेरा मन
जकडा है व्याकुलता से,
वन कर पिशाच
चढा है भय छाती पर
न जाने कल क्या होगा ।

तुम कहते हो
"खोल कर देखो आँखे
अन्तर्मन की,
कारण कोई है नही
व्याकुल रहने का,
भय का—
कारण हे केवल
अविश्वास ।

"कभी न सोचा तुमने
सत्ता है कोई और भी
जिसके वल से चलायमान

है यह सब,
यह जगत, ब्रह्माण्ड !"

बीत गया है जीवन
भक्ति-रहित, विश्वास-रहित,
भरा दुख से,
व्यर्थ थी चिंता ?
हाय ! तो अब क्या होगा ?

कहाँ ?

लख युवती
पानी भरती
अधेड कवि भर गये आह
कर स्मरण
गत यौवन
और कर गये वर्णन
कविगण
नायिकाओ के हाव-भाव

अंगना-लक्षण,
अथवा ले पुराण-शरण
गाये राम-रहीम महिमा गुण।

जीवन यह दुर्दाम संघर्ष,
कितने गिरते पग-पग
जीवन में असफल,
बने क्रीतदास
पुरुष कितने अनगिनत
लक्षपतियों के,
आजीविका के याचक,
सेवक, नौकर,
तरुणियाँ कितनी बिकती फिरती
रोटी पर,
पर कविगण, भयभीत
स्वार्थ-प्रेरित
दृष्टि फेरे चित्रित करते
तारागण, कूल, सरोवर, मलयानिल,
आततायियों के सम्मुख
बने याचक
कृपा-दृष्टि के इच्छुक।

पतन है सरल
मिलते जिससे व्यंजन विविध,
वस्त्र, आभूषण, द्रव्य अपरिमित,
पतन है मधुर, अत्याकर्षक।

कहाँ वे कविगण
मचा दें हाहाकार
देख सस्कृति पाशविक
उलट दे ससार,
त्रस्त, श्लथ मानव को
सिंहासन पर इन्द्र के
कर दे विराजमान ?
आदर्शों पर दृढ
गाये अलौकिक गीत
विकसित कर आत्म-शक्ति
नैसर्गिक मानव को
दिला दे जन्म-सिद्ध अधिकार
कहाँ है कविगण ?

देवदास

मिले थे वर्षों बाद
वे प्रेमी दोनो
पर छाया था अवसाद गहन
मिलन मे,
कर के व्यग्य
बोला देवदास
"बडे घराने की
सभाल कर गृहस्थी

बनी हो तुम, पारू
अब गृहिणी सयानी,
सुना है मैंने
बडी हो अब निपुण
करने मे व्यवस्था तुम
जमीदार घराने की,
करते हैं तुम्हारा आदर सब
पति जो मिले जागीरदार बडे,
बेटी-बेटे भी है बडे तुम्हारे—
बडे घर की बहू तुम
आज चली आई हो कैसे
इस घर मे, लोक-लज्जा भूल ?

"पूछा तुमने
तो कहता हूँ सच-सच,
पीता हूँ मै मदिरा
भुलाने को स्मृतियाँ
शैशव, यौवन की
जब अल्हड हम दोनो
खेला करते थे झुरमुट मध्य
गाँव के पार,
नित्य नये वे खेल,
वह हाथ में कोमल हाथ,
हँसते रहते हम, हो आत्म-विभोर
वे स्मृतियाँ

बनी हैं पीडा-भार,
कर न सकता वहन
और पीता हूँ मदिरा।"

"देवदास, तुम मेरे थे
और सदा रहोगे मेरे,
पर तुम पहले भी थे उडते रहते
गगन मे, आदर्शों मध्य
और आज भी तुम्हारा मन
नही रहता है धरती पर,
देवदास।
मन का हो न सकता वास
यह नीलाकाश।
परिस्थिति पर करो विचार
पिता का हुआ देहान्त,
खा चुके हो चोट,
खडे होना है तुमको अब
निज बल पर, इस धरती पर।
बन न सके यदि गृहस्थ
तो दो अवसर अपनी पारू को,
करने दो सेवा, देखभाल,
चलो मेरे ही घर।
मैं नारी, भय हूँ खाती
विचारो मे खोये रहने से
पर देख रही हूँ स्पष्ट

होगा बुरा परिणाम
इस एकाकी, उखडे जीवन का,
मदिरा मे डूबे रहने का ।

"और सुनती हूँ मैं
तुम जाते रहते हो
कुत्सित स्थानो पर
और फूंक रहे हो धन
उस चन्द्रमुखी पर—
बनाये हैं तुमने आभूषण,
नष्ट कर रहे हो तन, मन, धन,
किस मायाविनी पर,
सोचा है कुछ परिणाम ?"

"मिथ्या है, पारू
तुम्हारा यह दोपारोपण ।
बढाओ न मेरी पीडा
लगा कर ऐसे लाञ्छन ।
घर मे फैला है शोक
पिता का कर शवदाह
हम हैं सब शोकातुर,
पडी हैं माँ निश्चेष्ट
पीट कर छाती सूखी
पोछती हैं जलते आँसू
कह न पाती हैं कुछ,
हो गई अब विधवा—

मृत पिता की आत्मा
मँडरा रही है घर मे,
वह है साक्षी
नहीं दिये हैं आभूषण मैंने
किसी मायाविनी को,
बना रखे हैं अवश्य
कैसे कहूँ तुमसे,
किस वहू के लिये ?
तुम तो हो गई हो अब
वहू बडे घराने की
और आता है सकोच,
देते तुमको,
फिर भी, पूछता हूँ तुमसे,
करोगी स्वीकार
मुझसे यह उपहार ?"
उमडते हैं पार्वती के आँसू तप्त
छलछल बहते,
देख न पाती स्पष्ट
प्रियतम का मुख
"मानो आग्रह तुम,
लो शपथ, हे देवा,
छोड दो मदिरा,
सह न पाऊँगी पतन तुम्हारा--
मैं फैलाती हूँ आँचल,
दे दो वचन !"

पार्वती गिरती है रोकर
देवदास के चरणो पर ।

"न करो विवश, पारो
लेने को प्रतिज्ञा झूठी
निभा न सकूंगा वचन
न बुलवाओ झूठ—"
"दो वचन, देवा,
करती हूँ विनती तेरी "
"यह है दुराग्रह तेरा,
पारू, दे न सकता वचन,
उर मे मेरे नही शिला,
मैं भी लेकर इच्छाएँ
जन्मा था अभागा—"
रोकर बोली फिर पारू
"हो सकता है सब कुछ
हो यदि सच्चा प्यार—"
विह्वल देवदास, व्यथाग्रस्त,
सह न पाया यह वार
कह उठा दवा चीत्कार
"तो चलो साथ पारू, मेरे,
आज हम करे आरभ
एक नया जीवन,
चलो, छोड घरबार
आज हम भाग निकले दोनो

छोड सोते परिवार,
उठो, छाया है अधकार,
घिर आये है बादल,
तारे तक देख न पायेगे हमको ।
चलो, इस प्रदेश के पार
हम बसा ले नया ससार ।"

"छि देवदास,
क्या कह रहे हो तुम ?
ऐसा भी करता है कोई,
भाग चले, लगा कालख
दोनो परिवारो पर
अपने सुखार्थ विलखती माँ को छोड,
पति को त्याग, कुल मर्यादा कर विनष्ट--
करो मन को वश मे,
और सोचो कुछ
यह क्या कह रहे तुम ?"

"अभी तो कहा था तुमने
हो सकता है सब कुछ
हो यदि सच्चा प्यार ।
छोडो सकोच,
आओ, करे तुरन्त प्रस्थान
तोड ये सब बन्धन,
उठो तुम, पारू, आओ ।"

सहमी पार्वती देखकर सम्मुख

वह मुखाकृति गभीर,
पोंछ कर आँसू, हुई मौन ।
हँस पडा तब देवदास—
"यह न हो सकता यदि
तो न कहो, पारू, कि छोड़ूँ मदिरा,
मुझे यू ही रहने दो
रात हो गई है अब अधिक,
मेरे कमरे मे रहना और
उचित न होगा,
आओ पारू, छोड आता हूँ तुमको
घर तक ।"
सिसकती है पार्वती
और डबडबाई आँखो से,
निहार कर देवदास की व्यग्यभरी मुस्
चली जाती है धीरे धीरे ।

"ठीक कहती थी पारो
न हो सकती है कुछ बाते,
न हो सकता था विवाह
कभी पारू से,
कुल था मेरा उच्च
और पारू थी अकिचन
पिता ने ठुकरा दिया था क्षण मे
प्रस्ताव उसकी माता का ।
हो न सकता था विवाह

मेरा उस घर मे,
और, छोड कुल, परिवार
भाग न सकती थी पारू,
लगता घोर कलंक
निर्दोष पति-कुल पर
हँसता रह जाता जग
बेचारो पर।
ठीक कहा तुमने, पारू,
अनुचित था प्रस्ताव
पलायन का।
अपने सुख के लिये लगाना दोष
तुम्हारे कुल पर होता पाप।
तो चलो, ए मेरे मन
ले अपनी मुर्झाई इच्छाओ का कण्ट-गुच्छ
चलो एकाकी यात्रा पर
जब तक शेष है जीवन।
आऊँगा मै एक बार
फिर, पारुल, तेरे द्वार
मरने मे पहले एक बार,
तब तक प्रणाम, पारू, प्रणाम।"

"पारू को दूर छोड,
मै आया किसके द्वार ?
पहुँचा हूँ चन्द्रमुखी के घर
जहाँ आते है पिपासा भर

कितने पैसे के धनी तन के भूखे
हृदय जिनके भावना-रिक्त, सूखे ।
आया हूँ भुलाने प्यार
घुलाने स्मृतियाँ
चुन्नीलाल कहता था ठीक,
'भूलना हो प्यार
एक नारी का रंग रूप गंध हृदयोद्गार
तो रख दो अपने अधर प्यासे
मौन अधरो पर इसी चन्द्रा के,
यही है सुरा, यही सोम, यह अमृत,
इसी मे तृप्ति, इसी मे पाओगे तुम
सुषुप्ति ,
पीता नित्य
यह मधुर-विषैली मदिरा
पर न पाता हूँ विस्मृति ।
है तत्पर चन्द्रा
देने को सर्वस्व
हृदय मे ले पूजाभाव
फिर मैं क्यो करता अस्वीकार
उसकी श्रद्धा, उसके भावोद्गार
कब तक रह पाऊँगा ऐसे
उद्विग्न, विरक्त, हृदय मे ले शमित सीत्कार ?
कब तक अनसुनी कर पाऊँगा
पारू की यह क्षीण पुकार ?
कब तक देगी मदिरा साथ

जिसका अब प्रभाव
हो न पाता उतना
इस तपते मन पर
होता था पहले जितना ?
तपाती रहती हैं किरणे प्रखर
रवि की दिन मे
काटता रहता हूँ चक्कर गलियो में
और आती जब है साँझ,
तो रौंद कर मन को
उभर आती हैं जलती स्मृतियाँ ।
ए मदिरा !
तेरी हो गई हार,
तू घुला न सकी मन को
तू बुदबुदा कर हो गई फीकी, शान्त
पर अब भी ये स्मृतियाँ
बुदबुद करके उठ रही हैं वैसे ही,
तू घुला पाई है केवल
इस तन को ।
टकराता हूँ बारम्बार
दीवारो से, भुलाने को पीडा
फोडने को यह भाल
जिसमे धधक रही है ज्वाला,
बहता है रक्त
पर सज़ाएँ पूर्ववत् रहती हैं
सताती, तडपाती

छोड गई तुम, पारो, मुझको,
पर समाई हो क्यो अन्तरतम मे ऐसे,
क्यो न गई उर से, मन से ?
कैसा यह है खेल
मै कैसे सकता झेल,
इस पीडा को ?
थी तुम सदा स्वाभिमानिनी
शैशव में भी,
न जाओगी तुम—
किये हठ
जमी रहोगी अतर्मन में,
जानता हूँ मैं तुमको ।
तो ऐसा ही हो,
मैं ही करता हूँ प्रस्थान
इन स्मृतिपूर्ण प्रदेशो से
जाता हूँ दूर तुमसे ,,

गाडी दौड रही है
चीर कर अंधियारा,
चौक चौक कर उठ पडता है देवदास
देखकर चितवन स्वप्नो मे,
उमड पडते हैं अश्रु कभी
बेवस अन्तर से ।
भटकते अनेक प्रदेशो में
बीत गये कितने हेमन्त वसन्त

बीत गये कितने वर्ष विफल
पर मिट न पाई स्मृतियाँ
"मैं मद्यपी खो बैठा हूँ स्फूर्ति तन की
जाती रही है शक्ति, तेज
व्याधियो से नष्ट।
नही है वह दिन दूर
जब आ पहुँचेगा यम
माँगेगा जब बन कर याचक
भिक्षा मे प्राण।
समाई हो हृदय मे तुम
पूर्ववत, पारुल,
वही प्रतिमा चचल--शान्त
छाई है मानस पर,
वही है आकृति सौम्य,
पर अब नही सामर्थ्य
ढोने को यह भार
प्राणो का
दिया था वचन तुमको
आऊँगा फिर एक बार
मरने से पहले
देखूँगा वह मुखडा सौम्य
फिर एक बार।
पर इतने वर्षो बाद
देख यह विगलित देह,
यह आकृति मेरी विकृत

कही तुम फेर न लेना मुख ।
कहाँ अब मुझ मे पाओगी तुम
वह स्वाभाविक तेज, वह शौर्य, धैर्य
रीझी थी जिस पर तुम
शैशव-यौवन मे ?
आता है अब भी याद
थाम कर हाथ
बिठलाया था तुमने
उस बाँसो के झुरमुट मे
और सहज ही कह दिया था तुमने
किस सरलता से
'मेरे हो तुम, देवदास,
जन्म जन्मान्तर के हो तुम
मेरे देव ।'
आह ! मानस-चक्षु
देखते रह जाते है केवल तन को
और रूप-गुण-आकर्षण मे
खो जाते है विस्मित,
देख न पाते अतर्मन
जो लिए स्वाभाविक दैन्य अतिसूक्ष्म
तरसता रह जाता है, बन भिक्षुक,
स्नेह से वचित, तृपित ।
वह उत्कठित, आशान्वित
खोजता फिरता है वन-वन मे
किस मानस प्रतिमा की गोद

जिस मे रख कर सिर उद्भ्रान्त, श्रान्त
वह ले एक दीर्घ निश्वास
और पाये कुछ सान्त्वना, हो जाये शान्त ?
कहाँ पायेगा वह गोद, वह प्यार,
किसका होगा वह हाथ
जो आकर धीरे धीरे
थम जायेगा सिर पर उसके ?
कहाँ पायेगा वह देवी इष्ट
जो फेरेगी वह कोमल हाथ ?
आह ! मिल जाये बस एक बार
वह चिर-वाञ्छित, दुर्लभ प्यार
तो होगी सहर्ष स्वीकार
मृत्यु भी, जो आ रही है नित्य समीप,
दुर्निवार, विकराल !
ले हृदय मे आशा
आता हूँ समीप तेरे,
पा सकता हूँ कही शान्ति यदि
तो तुम ही तो वह हो,
मेरी लक्ष्य, देवी आराध्य ।
बस एक बार दे देना, पारुल
अपना प्यार, वह स्नेहोद्गार,
बस एक बार,
फिर होकर मैं निश्चिन्त
छोड दूंगा श्वास,
और तज कर यह प्राण-भार,

हो जाऊँगा निश्चल, शान्त।"
हुई समाप्त वह यात्रा दीर्घ
और पहुँचा जागीरदार के द्वार,
पर रोगाक्रान्त देह
दे न पाया साथ
ठग कर अन्तिम इच्छाएँ
उखड गये प्राण
पीपल के नीचे।
यात्री था वह अनजाना
किसका था पहचाना ?
ज्ञात हुआ जब नाम
उसका पारू को
तो जल रहा था
चिता पर उसका शव।
मूक पावती खडी देख रही थी
अपलक, पीपल की ओर—
पथराई आँखें नारी की
ताकती रह जाती है व्यर्थ
जीवन भर
गाँव के पार
दूर कही झुरमुट मे
रोते थे सियार,
पर गगन मे चाँद
ले व्यग्यभरी मुस्कान
देख रहा था दृश्य—

देख रहा था बुझती ज्वाला
चिता की,
देख रहा था
पार्वती की पथराई आँखे, मूक रुदन।
प्रकृति थी अपरिवर्तित,
मानव के सुख-दुख से दूर,
अर्थहीन था उसका जीवन,
व्यर्थ मरण
पार्वती का शोक, रुदन भी
था अर्थहीन, व्यर्थ,
और वह तीज का चाँद, धीरे धीरे,
हो रहा था अस्त।